P: ISSN NO.: 2394-0344 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-2* ISSUE-11* February- 2018
E: ISSN NO.: 2455-0817 *Remarking An Analisation*

प्राचीन भारत में राज्य की उत्पत्ति : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

राज कुमार सिंह
सहायक प्राध्यापक,
इतिहास विभाग,
एस.एम.पी. गर्वनमेंट गर्ल्स पी. जी. कॉलेज,
माधवपुरम, मेरठ, उत्तर प्रदेश, भारत

सारांश

वैश्विक पटल पर राजनीतिक चिंतकों एवं समाजशास्त्रियों के बीच, ''राज्य'' नामक संस्था की उत्पत्ति एवं विकास उत्सुकता का विषय रहा है। भारत के संदर्भ में प्राचीनतम सभ्यता के रूप में सिन्धु सभ्यता, तत्पश्चात वैदिक सभ्यता में भी ''राज्य'' नामक संस्था राजनीतिक व्यवस्था के रूप में विद्यमान रही। सैंधव काल में साक्ष्यों के अभाव में राजव्यवस्था के स्वरूप का निर्धारण हो पाना एक कठिन कार्य रहा। किन्तु, वैदिक साहित्य में इस सम्बन्ध में जो सामग्री वर्णित है, उससे भारत में राज्य की उत्पत्ति एवं विकास की प्रक्रिया का स्पष्ट अनुमान हो जाता है। उपलब्ध स्रोतों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक कबीलाई जीवन में राज्य अपनी उत्पत्ति के प्रारम्भिक चरण में था, जो कालांतर में परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप ढलते हुए अपने पूर्ण विकसित रूप में स्थापित हुआ। प्राचीन भारतीय साहित्यिक स्रोतों में राज्य की उत्पत्ति के संदर्भ में चार सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है, जो सभी राज्य की उत्पत्ति के मूल में शान्ति एवं सुरक्षा की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं।

मुख्य शब्द : राज्य की उत्पत्ति, प्राचीन साहित्यिक स्रोत, वैदिक सभ्यता, राजव्यवस्था, राजनीतिक चिंतक, समाजशास्त्री, वैदिक साहित्य, शान्ति–सुरक्षा।

प्रस्तावना

मानव इतिहास के विकास–क्रम में राज्य की संकल्पना एवं उसकी उत्पत्ति, हमेशा से ही राजनीतिक चिंतकों एवं समाजशास्त्रियों के बीच जिज्ञासा का विषय रही है। विश्व के अलग–अलग भागों में राज्य की उत्पत्ति एवं इसके विकास–क्रम को समझने की कोशिश लगातार होती रही है। भारत के संदर्भ में राज्य की उत्पत्ति एवं विकास को समझने के लिए हमें विशेषतः प्राचीन साहित्यिक स्रोतों पर ही निर्भर रहना पड़ता है, जिनमें इस सम्बन्ध में सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध वर्णन नहीं मिलता अपितु यत्र–तत्र कुछ विवरणों का उल्लेख मिलता है, जिनके विश्लेषण से हम प्राचीन भारत में राज्य की उत्पत्ति एवं उसके विकास–क्रम का एक खाका खींच पाने में सफल होते हैं। वैदिक साहित्य के प्रसंगों से स्पष्ट है कि ''राज्य'' नामक संस्था वैदिक सभ्यता का एक प्रमुख अंग थी। वैदिक आर्य राज्य की उत्पत्ति के विषय में कुछ हेतुओं में विश्वास करते थे।

उनके अनुसार राज्य की उत्पत्ति के चार सिद्धान्त थे। इनमें से पहला सिद्धान्त युद्ध का सिद्धान्त है। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के कतिपय उद्धरणों से सिद्ध होता है कि वैदिक आर्यों तथा अनार्यों में परस्पर संघर्ष होते रहते थे। इन संघर्षों में विजेता, पराजित जाति के लोगों को दास बना लिया करते थे, इसीलिए दासता से मुक्त होने के लिये तथा विजय प्राप्ति के लिये यत्र–तत्र प्रार्थनाएँ करने का उल्लेख मिलता हैं।[1] इस स्थिति में राजनैतिक समाज की अवस्था में प्रविष्ट होते हुये आर्यों द्वारा राज्य का निर्माण हुआ। ऐतरेय ब्राह्मण में एक आख्यान आता है जो युद्ध के सिद्धान्त की पुष्टि का एक ज्वलन्त प्रमाण है जिसके अनुसार, युद्ध की आवश्यकता से विवश होकर राजा का प्रादुर्भाव हुआ। देवों और असुरों में युद्ध हो रहा था। असुरों ने देवों को परास्त कर दिया। इस पर देवों ने कहा, क्योंकि हमारा कोई राजा नहीं है, इसी कारण असुर हमें जीत लेते हैं। हम भी राजा बना लें। इसे सब ने स्वीकार कर लिया।[2] इस प्रकार राजा और राज्य की उत्पत्ति हुई। इस सिद्धान्त में इस बात पर जोर दिया गया कि युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति और विजय के लिये ही राज्य की उत्पत्ति हुई। इससे यह भी आभास मिलता है कि वैदिक आर्यों में जिस राज्य का सर्वप्रथम उदय हुआ उसका एक प्रमुख उद्देश्य युद्ध में विजय प्राप्ति था। आधुनिक विचारक भी राज्य के विकास में युद्ध को एक महत्वपूर्ण तत्व मानते हैं। मानव समाज की प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य जिन टोलियों एवं कबीलों में संगठित थे, उनका

जीवन शान्तिमय नहीं था। अपने चरागाहों, पशुओं, खेतों एवं बस्तियों की रक्षा के लिए उन्हें निरन्तर युद्ध की आवश्यकता होती थी। युद्ध का सुचारू रूप से संचालन करने के लिए किसी योग्य नेता का होना अनिवार्य होता है। युद्ध की इसी आवश्यकता ने टोलियों, कबीलों और बस्तियों में एक ऐसे नेता का प्रादुर्भाव किया, जो अपनी योग्यता, बल और साहस के कारण कुशलता से युद्ध का संचालन कर सकता था। केवल युद्ध के अवसर पर ही नहीं, अपितु शान्ति के समय में भी लोग इस नेता के आदेशों का पालन करते थे। ऐतरेय ब्राह्मण ने राज्यसंस्था के प्रादुर्भाव में इसी विचार को प्रकट किया है।

वैदिक युग में ही विकसित दूसरा सिद्धान्त सामाजिक समझौते का सिद्धान्त था। ऋग्वेद में अप्रत्यक्ष रूप से इस सिद्धान्त की पुष्टि के संकेत मिलते हैं, जबकि यजुर्वेद में अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट सामग्री प्राप्त है।[3] इसी विकासक्रम में कालान्तर में युद्ध सिद्धान्त का परित्याग कर दिया जाना इसलिये उपयुक्त हुआ होगा, क्योंकि आर्य राजनैतिक रूप से दृढ़ हो चुके थे। अब राजा को ''धृतव्रत'' की उपाधि दी गई, जो इस तथ्य का पोषण करती है कि राजा की नियुक्ति उसके द्वारा कतिपय व्रतों के पालन करने की प्रतिज्ञा द्वारा हुई होगी।[4] यजुर्वेद के मन्त्रों से अनुबन्ध के आधार पर उसकी नियुक्ति का विधान मिलता है।[5] इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम विस्तृत उल्लेख महाभारत में मिलता है। जिसके अनुसार, आरम्भ में लोगों में एक समझौता या सहमति हुई थी, जिसका पालन नहीं हो पाया। जब लोग चिरकालीन अराजकता से ऊब गये, उन्होंने आपस में यह समझौता किया कि असामाजिक तत्वों को समाज से बाहर निकाल दिया जाये। इस समझौते की व्याप्ति पूरे समाज के लिए की गयी, इसलिए कि लोगों का इस पर विश्वास बना रहे। किन्तु लोगों के कष्ट कुछ कम नहीं हुए, शायद इसलिए कि इसके कार्यान्वित करने के लिए राजसत्ता नहीं थी। अतः वे ब्रह्मदेव की शरण में गये तथा उनसे प्रार्थना की कि वे एक ऐसे सुयोग्य राजा को भेज दें, जिसके गुणों के कारण लोग स्वयं उनको राजा मान लें और जो लोगों को डाकू एवं परकीय हमलों से बचाए। ब्रह्मदेव ने मनु को राज पद पर नियुक्त किया, जिसे मनु ने लोगों से कुछ आश्वासन मिलने के पश्चात् स्वीकार कर लिया।[6]

महाभारत में वर्णित इस समझौतावादी सिद्धान्त की पुष्टि रामायण, कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा जैन एवं बौद्ध साहित्य में भी मिलती है।[7] अर्थशास्त्र के अनुसार, मत्स्य न्याय से पीड़ित प्रजा ने वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया। राजा को उसकी सेवाओं के बदले में धान्य का छठा भाग तथा पण्य एवं सुवर्ण का दसवाँ भाग देने की व्यवस्था की गयी।[8]

वैदिक युग में प्रचलित राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी तीसरा सिद्धान्त दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त है। ऋग्वेद के मन्त्रों में राजा को देव मानकर सम्बोधित किया गया है।[9] यजुर्वेद में राजा को दिवः सूनुः अर्थात् द्युमोक के पुत्र की उपाधि दी गई।[10] दैवी उत्पत्ति के विषय में यजुर्वेद में ही ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिनमें प्रस्तावित राजा को देव बनाने की योजना का स्पष्ट उल्लेख है।[11] वैदिक विचारधारा में राजा देव अवश्य माना गया परन्तु उसका देवत्व उसके पवित्र एवं धर्मानुकूल आचरण पर आश्रित था। अपने कार्यों के लिए वह जनता के प्रति उत्तरदायी था न कि ईश्वर के प्रति।

वैदिक युग के उपरान्त स्मृतियों के काल में भी राजा को देवत्व मानते हुए राज्य का महत्व मोक्ष की प्राप्ति के लिये एक आवश्यक साधन के रूप में बताया गया है। मनुस्मृति में राज्य की उत्पत्ति को दैवी माना गया है। जिसके अनुसार, ''संसार की रक्षा के लिये ईश्वर ने राजा का निर्माण इन्द्र, अग्नि, यम, सूर्य, वायु, वरूण, चन्द्र और कुबेर (देवताओं) से अंश लेकर किया। इसीलिए वह सबकी आँखों और हृदयों को सूर्य के समान अपने तेज से तप्त करता है और पृथ्वी पर कोई भी व्यक्ति उसकी ओर आँख उठा कर नहीं देख सकता। राजा अपने प्रभाव के कारण ही स्वयं अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, कुबेर, वरूण और महेन्द्र होता है। यदि कोई बालक भी राजा हो, तो यह समझकर उसका अपमान नहीं करना चाहिए कि वह तो अभी बालक ही है। राजा देखने में यद्यपि एक साधारण मनुष्य प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में उसे एक महान देवता समझना चाहिए।''[12]

महाभारत से भी राजा का दैवी होना इंगित होता है। शान्ति पर्व में एक स्थान पर देवों और नरदेवों (राजाओं) को एक तुल्य कहा गया है।[13] शान्ति पर्व के अनुसार, सभी देव लोग प्रजापति विष्णु की सेवा में उपस्थित हुए और उन्होंने उनसे पूछा–मुनष्यों में ऐसा कौन सा व्यक्ति है, जो उनमें श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने के योग्य है। इस पर विष्णु ने एक मानस पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नाम विरजस था। परन्तु उसने मनुष्यों का राजा होना स्वीकार नहीं किया। तब उसका पुत्र कीर्तिमान राजा बना, और फिर क्रमशः कर्दम, अनंग और अतिबल राजा बने।[14] इस कथा के अनुसार भगवान विष्णु द्वारा मनुष्यों के राजा को निर्धारित किया जाना सूचित होता है। महाभारत के ही अनुसार, ''राजा भी एक मनुष्य है, यह समझकर उसका अपमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह मनुष्य के रूप में वस्तुतः 'महती देवता' होता है। समय के अनुसार उसके पाँच रूप होते हैं–अग्नि, सूर्य, मृत्यु, कुबेर और यम। जब वह अपने महान तेज द्वारा पापी लोगों का दहन करता है तो वह अग्नि का रूप धारण करता है''।[15] इसी प्रकार राजा के अन्य रूपों को भी महाभारत में दर्शाया गया है।[16]

कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में राजा के दैवी होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उसने वर्णित किया है कि राजा इन्द्र और यम का स्थानीय होता है, कृपा और कोप उसमें प्रत्यक्ष रूप से होते हैं। जो कोई उसका अपमान करता है, उसे दैवी दण्ड़ भी मिलता है। इस प्रकार राजाओं का कभी अपमान नहीं करना चाहिए।[17] अग्नि पुराण में भी हरि और ब्रहमा द्वारा पृथु को राजा बनाये जाने का विवरण मिलता है।[18] नारद स्मृति में स्पष्टतः राजा को इन्द्र कहा गया है, जिसकी आज्ञाओं का पालन करना प्रजा का कर्त्तव्य है।[19]

इसमें सन्देह नहीं कि भारत के प्राचीन साहित्य में राजा के दैवी होने के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु भारत के प्राचीन राजा अपने को कभी इस ढंग से दैवी नहीं समझते थे, जैसे कि इंग्लैण्ड के स्टुअर्ट

राजा समझते थे। प्राचीन भारत का दैवी सिद्धान्त इससे सर्वथा भिन्न था। भारत में सृष्टि, ज्ञान आदि सभी का उद्‌गम ईश्वर द्वारा माना जाता था। जहाँ एक ओर राजा के बालक होने पर भी देवत्व समझकर अपमान न करने का आदेश दिया गया, वहाँ यह भी कहा गया कि राजा अपने दैवी गुणों का उत्तरोत्तर विकास करता हुआ प्रजा के हित में ही शासन करेगा। राजा निरंकुश न होकर सर्वथा दण्ड के अधीन भी था। भारतीय सिद्धान्त के अनुसार, यदि राजा अपनी दैवी शक्ति की आड़ में एक अत्याचारी सा व्यवहार करता है तो, उसे भी राजसिंहासन से अलग कर देना चाहिए। भारतीय सिद्धान्त में राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं माना गया है और न उसके अत्याचारों के प्रति विद्रोह को ईश्वर के प्रति विद्रोह कहा गया है। राजा और दण्ड की सृष्टि ईश्वर के द्वारा हुई मान कर राजा को दण्ड से श्रेष्ठ नहीं माना गया।[20]

प्राचीन भारत में प्रचलित राज्य की उत्पत्ति का चौथा सि़द्धान्त विकासवादी सिद्धान्त था। विकासवादी सिद्धान्त का सबसे प्राचीन निर्देश अथर्ववेद में मिलता है। सभा और समिति सम्बन्धी अथर्ववेद के सूक्त के अनुसार राज्य क्रमिक विकास का परिणाम है। राज्यसंस्था से पूर्व विराट (राज्यविहीन या अराजक) दशा थी, उस दशा के होने पर यह भय हुआ कि क्या यही दशा सदा रहेगी। क्योंकि यह दशा भयावह थी, अतः संगठन की आवश्यकता हुई। मनुष्यों का सबसे पहला संगठन परिवार के रूप में बना। पारिवारिक दशा में उन्नति होकर ''आहवनीय'' दशा आई। इस दशा में गृहों (परिवारों) के स्वामियों (गृहपतियों) का एक स्थान पर आह्‌वान किया जाता था। सम्भवतः यह ग्राम–संगठन का सूचक है। आहवनीय के नेता को वेदों में ''ग्रामीण'' कहा गया है। आहवनीय (ग्राम) से उन्नति होकर ''दक्षिणाग्नि'' दशा आई। इस दक्षिणाग्नि दशा में विकास होकर सभा और समिति संस्थाओं का निर्माण हुआ।[21] इस प्रकार अथर्ववेद के अनुसार राज्य संस्था क्रमिक विकास का परिणाम है। यह सिद्धान्त वर्तमान समय के राजनीतिशास्त्र एवं समाजशास्त्र के विचारकों के सिद्धान्त से अनेक अंशों में समानता रखता है।

यह सत्य है कि आर्य प्रारम्भ में कबीलों में संगठित थे और प्रत्येक कबीले का सबसे श्रेष्ठ अथवा शाक्तिशाली पुरूष उस कबीले का नेता होता था। वही युद्ध में अपने कबीले का नेतृत्व करता था। अतः प्रारम्भिक राज्यों के निर्माण में शक्ति और युद्ध का अवश्य ही महत्वपूर्ण योगदान रहा होगा। जब आर्य कबीले निश्चित भूभाग पर रहने लगे तो उन्हें उस भूमि से अवश्य ही प्रेम उत्पन्न हुआ होगा। उस प्रेम के साथ उनमें आदिवासियों के प्रति घृणा और अपने वर्ण (रंग) तथा विजित प्रदेशों के रक्षण के लिए गहरी चिन्ता उत्पन्न हुई होगी। इस प्रकार आर्यों के मन में उस भूमि के प्रति जहाँ के वे निवासी थे, एक सुदृढ़ भावना पैदा हुई होगी। क्योंकि उस भूमि से वे कभी हटना नहीं चाह सकते थे। इस भावना से, जिसे प्रतिरक्षा तथा आक्रमण की आवश्यकता ने अधिक सुदृढ़ बनाया होगा, प्रारम्भिक राजनीतिक चेतना का रूप धारण किया होगा और इस प्रकार प्रथम राज्य, जिसे वैदिक आर्यों ने राष्ट्र कहा, उत्पन्न हुआ होगा।[22]

अध्ययन का उद्देश्य

मेरे इस अध्ययन का मूल उद्देश्य इस तथ्य पर प्रकाश डालना है कि–

1. प्राचीन भारत में ''राज्य'' नामक संस्था की उत्पत्ति एवं विकास किस प्रकार हुआ। जिस वंशानुगत निरंकुश राजतंत्र को हम मौर्यकाल या उसके परवर्ती कालों में पाते हैं, वह अपनी उत्पत्ति के प्रारम्भ से वैसा ही था या समय और परिस्थितियों के अनुरूप ढलता हुआ ऋग्वैदिक कबीलाई स्वरूप से विकसित होकर अपने पूर्ण विकसित रूप में स्थापित हुआ।
2. प्राचीन भारत में वो कौन सी सामाजिक–राजनीतिक परिस्थितियां थी जिन्होंने राज्य–संस्था के उदभव एवं विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

निष्कर्ष

वस्तुतः प्राचीन भारत में ''राज्य'' नामक संस्था की संकल्पना वृहद रूपमें की गयी है। राजनैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था की स्थापना एवं इसके सुचारू संचालन के लिए राज्य को आवश्यक माना गया है। आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्थाएँ हमेशा से राजनैतिक व्यवस्था को प्रभावित करती रही हैं, प्राचीन भारतीय इतिहास भी इस तथ्य से बचा हुआ नहीं है। ऋग्वैदिक कबीलाई स्वरूप ने तत्कालीन राजव्यवस्था को भी प्रभावित किया। इस काल में राज्य अपनी उत्पत्ति के आरम्भिक चरण में रहा। उत्तर वैदिक काल एवं परवर्ती कालों में जैसे–जैसे आर्थिक और सामाजिक जीवन में स्थिरता और स्पष्टता आती गयी, राज्य संस्था भी स्थिर , सुदृढ एवं विकसित होती चली गयी। प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्णित राज्य की उत्पत्ति के सभी सिद्धान्तों में इस तथ्य का स्पष्ट संकेत मिलता है। शान्ति, सुरक्षा एवं न्याय की आवश्यकता ने राज्य की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. *ऋग्वेद 9.36.1 यजुर्वेद 44.8*
2. *ऐतरेय ब्राह्मण 14.3.1*
3. *ऋग्वेद 9.36.1 यजुर्वेद 44.8*
4. *ऋग्वेद 3.27.8*
5. *यजुर्वेद 22.9, 32.6, 42.9, 3.20*
6. *महाभारत, शान्तिपर्व 67.16–28*
7. *रामायण, आयोध्याकांड, अध्याय 43, मनुस्मृति 7.3–20, आचार्य कौटिल्यः अर्थशास्त्र 1.9, रॉक हिलः लाइफ ऑफ बुद्धा, पृ० –3–7, दिवाकर तिवारीः दी कॉन्सैप्ट ऑफ स्टेट इन महाभारत, पृ० 54–69, विधानिधि ऑरियेंटल प्रकाशन, दिल्ली 1990*
8. *आचार्य कौटिल्यः अर्थशास्त्र 1.9*
9. *ऋग्वेद 4.1.2, 1.24.13*
10. *यजुर्वेद 6.6*

11. *यजुर्वेद 5.1, 21.9, 28.10, 30.10, 24.10*
12. *मनुस्मृति 7.3–7*
13. *महाभारत, शान्तिपर्व 58.153*
14. *महाभारत, शान्तिपर्व 66.95–100*
15. *महाभारत, शान्तिपर्व 67.40–42*
16. *महाभारत, शान्तिपर्व 67.43–48*
17. *आचार्य कौटिल्यः अर्थशास्त्र 1.9*
18. *अग्नि पुराण 19.19–28*
19. *नारद स्मृति 18.20–25*
20. *एस० वर्दाचारियरः हिन्दू ज्यूडीशियल सिस्टम, पृ० 22–23, लखनऊ विश्वविद्यालय–1946*
21. *अधर्ववेद 8.10.1*
22. *डॉ० एच०एन०सिन्हाः दी डव्लपमेंट ऑफ इन्डियन पॉलिटी, पृ०–23, मॉडर्न प्रिंटिंग वर्क्स, मद्रास–1919*